शिक्षा के लिए प्रतिबद्धता : क्या हम असफल हो रहे हैं?

हृदयकांत दीवान

भारतीय संविधान के वायदे

एक लोकतांत्रिक राज्य के विचार का आधार और उसके लक्ष्य आजादी, अवसरों की समानता, मध्यस्थता और न्याय में होते हैं और इसके लिए सब नागरिकों की हिस्सेदारी की जरूरत होती है। इस विचार को कई तरह से अभिव्यक्त किया गया है और इस मामले में सबसे उल्लेखनीय भारतीय संविधान की उद्देशिका है। यह भारत के लोगों द्वारा की गई घोषणा है कि वे स्वयं को एक ऐसे समूह का रूप दे रहे हैं जिससे प्रत्येक व्यक्ति को कुछ समान अधिकार और समानता पर आधारित अवसर प्राप्त होंगे।

संविधान की उद्देशिका में मुख्य शब्द न्याय, स्वतन्त्रता, अवसर और प्रतिष्ठा की समता तथा बन्धुता हैं। स्पष्ट है कि इनमें से प्रत्येक शब्द एक नागरिक से अन्य नागरिकों के लिए हमदर्दी और चिन्ता की माँग करता है, जिसकी बुनियाद में इन शब्दों के अर्थ की समझ भी हो। शासन–व्यवस्था से भी आशा की जाती है कि वह हमें इन लक्ष्यों के बारे में जागरूक करने तथा उन्हें हासिल करने में सक्षम बनाने में निहित चुनौती के लिए तैयार रहे। हमने स्वयं को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय तथा प्रतिष्ठा एवं अवसरों की समानता के लिए प्रतिबद्ध किया है। एक जातिग्रस्त, लैंगिक मुद्दों पर अत्यधिक पूर्वाग्रहग्रस्त, सांस्कृतिक विविधता और आर्थिक तौर पर अत्यधिक स्तरीकृत, राजनैतिक तौर पर विभाजित असमान समाज में भी ऐसी प्रतिबद्धता का होना एक दूरगामी दृष्टि को दर्शाता है। उद्देशिका में स्थापित विचारों के परिप्रेक्ष्य, उनके अर्थ और अन्तर्निहित भाव को समझने तथा नागरिकों में इसे सम्भव बना पाने की क्षमताएँ होने के लिए शिक्षा एक केन्द्रीय साधन है।

लोगों के प्रति आदर, समता तथा न्याय की यह समझ बनाने का एक रास्ता कानून की ओर से सजा दिए जाने की सम्भावनाओं का है – एक और रास्ता है सभी नागरिकों में इन शब्दों की अर्थ–सम्बन्धी समझ बनाने और आकांक्षाओं तक पहुँचने के लिए उनमें विश्वास जगाने का रास्ता। इसका अर्थ है कि पहले इन सम्भावनाओं का ज्ञान होना आवश्यक है और उसके बाद इस विश्वास का होना कि कोई भी व्यक्ति वही बनने की आकांक्षा रख सकता है जो वह बनना चाहता या चाहती है। यह बात अमर्त्य सेन तथा अन्य द्वारा प्रचारित अधिकारों या सामर्थ्य को केन्द्र में रखने वाले दृष्टिकोण की संगति में है। उनकी अभिधारणा है कि सच्ची स्वतंत्रता चुनाव कर पाने में होती है। इससे बढ़ने–फलने की स्वतंत्रता मिलती है, जिसके चलते सामर्थ्य और योग्यताओं की जरूरत पैदा होती है। नतीजतन, समानता तथा मध्यस्थता का बोध पैदा उत्पन्न होता है। इस सबसे हमें समझने में मदद मिलती है कि हम कहाँ तक पहुँच पाए हैं।

संविधान की प्रतिबद्धताएँ मौलिक अधिकारों और नीतिगत निदेशक सिद्धान्तों के रूप में वर्गीकृत हैं। एक ओर तो इन दोनों आयामों में प्रगति अवरुद्ध हुई है। दूसरी ओर शिक्षा को मौलिक अधिकार नहीं बनाया गया था। और इस बात को पहचानना तो महत्त्वपूर्ण है ही कि हम अभी अपने मूल अधिकारों को भी हासिल नहीं कर पाए हैं। जाति, मत और लैंगिक आधार पर अभी भी समानता नहीं है। शोषण से आजादी की या धर्म के चुनाव में बराबर की आजादी की भी अभी तक कोई गारण्टी नहीं है। मौजूदा परिदृश्य में विमर्श भी समय–समय पर फूट और संघर्ष से लदा हुआ रहता है। नागरिकों के कुछ वर्ग सामान्य स्थितियों में भी भेदभाव का सामना करते हैं।

अल्प सुविधा प्राप्त लोग (जिनमें अछूत समझी जाने वाली जातियों, अल्पसंख्यक समुदायों विशेषकर मुसलमानों और जनजातियों जैसे वर्गों के लोग शामिल हैं) अलग–अलग तरह से हाशिए पर धकेले जाते हैं और उन्हें भेदभाव का सामना करना पड़ता है। जीवन, व्यवसाय और आहार सम्बन्धी बुनियादी स्वतंत्रता की बातों पर भी सीमाएँ बाँधी जाती हैं। कुछ की तो छाया भी किसी पर पड़ जाए तो उन्हें सजा दी जाती है; कई हैं जिनके लिए दोस्त बना पाना और साथ में खाना तो दूर, उनका अन्य लोगों के साथ बैठना भी गवारा नहीं किया जाता; और कुछ को तो यह भी कह दिया

गया है कि वे किसी दूसरे देश में जा बसें। परिवारों पर हमले हुए हैं, उन्हें उन के घरों से खदेड़ा गया है – सिर्फ इसलिए कि उनके समुदाय के किसी व्यक्ति ने तथाकथित उच्च, प्रतिष्ठित जाति के लोगों से दोस्ती या सम्बन्ध बनाने की गलती की है।

लैंगिकता का मुद्दा एक अन्य घोर असमानता का मुद्दा है। महिलाएँ मर्दों से कम मजूरी पाती हैं। सम्पत्ति के अधिकार प्राप्त नहीं हैं, न ही बच्चे उनका नाम ग्रहण कर सकते हैं। कपड़े पहनने के नियम और शैली भी निर्धारित है जिसका अर्थ यह है कि इनके विरुद्ध जाकर अपनी मन–मर्जी से वस्त्र धारण किए जाते हैं तो यौन–उत्पीड़न और आक्रमण का सामना करना पड़ता है। यह स्पष्ट है कि कानून को लागू करने वाली कोई भी एजेंसी इन (या अन्य) अधिकारों को सुनिश्चित नहीं कर पाती है। हम आगे तो बढ़े हैं लेकिन इन अधिकारों को सब नागरिकों के लिए सम्भव बनाने से अभी बहुत दूर हैं। संवैधानिक उपायों के अधिकार की माँग है कि नागरिक पहले उन अधिकारों को समझें – तब ही वे कोई याचिका बना पाएँगे या अदालत के सामने कोई मुकदमा ला पाएँगे। निदेशक सिद्धान्तों को लागू करवाने के लिए जोर लगाना तो इससे भी अलग बात है।

शिक्षा को मूल अधिकारों में रखने के लिए दी गई दलीलें संविधान सभा के लिए स्वीकार्य नहीं हो पाई थीं। इसलिए शिक्षा को निदेशक सिद्धान्तों में रखा गया। यह दुर्भाग्य की बात है कि लोकतंत्र की आधारशिला का काम करने वाली न्यायसंगत शिक्षा की बात स्वीकार नहीं हो पाई। इस बात के बावजूद है कि इसके लिए प्रतिबद्ध ता बहुत बार दर्शाई गई है, शिक्षा को सार्वभौमिक तौर पर उपलब्ध करवाने की कोशिशें कभी भी सबसे बड़ी प्राथमिकता नहीं बन पाईं। अधिकतर तो यह आर्थिक विकास, आन्तरिक सुरक्षा और बाह्य सुरक्षा के आगे हारती रही है।

सबके लिए शिक्षा के अवसर होना असल में सबके लिए बराबर के अवसर निर्मित करने की ओर पहला कदम है। प्रवेश सम्बन्धी आँकड़ों से मालूम होता है कि अधिकतर बच्चे शायद स्कूल में प्रवेश तो लेते हैं लेकिन बड़ी संख्या में बच्चे बहुत जल्दी स्कूल छोड़ भी देते हैं और माध्यमिक स्कूल तक तो अधिकतर पढ़ाई छोड़ चुके होते हैं। यह भी हो सकता है कि शायद शिक्षा छोड़ने वालों में से कुछ ऐसे भी हों जिन्होंने असल में प्रवेश ही न लिया हो। इसलिए शिक्षा के सार्वभौमीकरण तथा समता के साथ अवसर की ओर उठाया जाने वाला पहला कदम भी नाकामयाब लगता है। हमें इसके कारणों के बारे में सोचना होगा और 'समान अवसर' के प्रभावों तथा निहितार्थ के बारे में भी।

एक स्तरीकृत, कई परतों वाले समाज में व्यवस्थित शिक्षा को न्यायसंगत होना है तो उसे औपचारिक ढाँचे के बाहर उपलब्ध विभेदी अवसरों और मदद के लिए क्षतिपूर्ति करना होगी और ऐसा करते हुए अधिक निवेश उन पर करना होगा जिन्हें घर पर मदद नहीं मिल पाती। यह भी सुनिश्चित किया जाना होगा कि जो भी स्कूल के द्वार तक पहुँचता है, वह स्वयं को आराम की अवस्था में महसूस करे और उसे लगे कि वहाँ उसका स्वागत है। व्यवस्थित शिक्षा को ऐसे लोगों के अनुभवों और आवश्यकताओं के अनुरूप होना होगा। इस परिदृश्य में जो सवाल करने पर हम मजबूर होते हैं, वह है –क्या हम यह कर रहे हैं? अगर हम न्यायसंगत शिक्षा को लोकतंत्र की ओर बढ़ने की आधारशिला मानते हैं तो हमें शिक्षा–व्यवस्था की अब तक की कार्यप्रणाली को देखना होगा और उसके नीति–कथनों को भी।

शिक्षा के भेदभावपूर्ण होने का एक कारक है प्रत्येक बच्चे की शिक्षा पर होने वाला खर्च।[1] इस सन्दर्भ में एक छोर पर संसाधन–प्राप्त विशेषाधिकार–सम्पन्न बच्चे हैं तो दूसरे छोर पर वे बच्चे हैं जिनका स्कूल आना भी उनके माता–पिता के लिए निवेश की एक बड़ी बात होती है। सरकार की व्यवस्था बहुत वर्गीकृत होने की वजह से यह अन्तर बहुत अधिक रहता है।

सार्वजनिक परीक्षाओं में विद्यार्थियों के उच्च अंकों और मेरिट लिस्ट में उनकी संख्या के आधार पर स्कूलों को आँका जाता है जबकि भाईचारे के विकास की भावना और आत्म–मूल्यांकन को कम आँका जाता है। इस बात को दर्ज करने की कोई भी प्रणाली नहीं है कि स्कूल इन मूल्यों को जोड़ पा रहे हैं या नहीं। इसके अलावा प्रतिस्पर्द्धा की होड़ लगी है। छँटाई की जाती है, जो समावेश और बच्चों को स्कूल में बनाए रखने के सिद्धान्तों के विरुद्ध है। उच्च अंक–प्राप्ति और तुलनात्मक प्रदर्शन पर बल दिए जाने से तथा परिप्रेक्ष्य और अवसरों में अन्तर को अनदेखा करने से उन्हें व्यवस्था से बाहर कर दिया जाना सुनिश्चित हो जाता है जिन्हें असल में सबसे अधिक मदद की जरूरत होती है। सुविधा वंचितों में से भी जो इस दीवार को किसी न किसी तरह भेद पाते हैं, उन्हें तो और भी अधिक विरोध तथा

पूर्वाग्रहों का सामना करना पड़ता है – पिछले समय में आई.आई.टी. तथा आई.ए.एस. के प्रवेशार्थियों से सम्बद्ध घटनाओं से यह प्रदर्शित होता है।

एक और हारती हुई जंग वंचित बच्चों के लिए अधिक संसाधनों के लिए संघर्ष से सम्बन्धित रही है। शिक्षा के बजट में की गई 11000 करोड़ रुपयों की कटौती को इसी सन्दर्भ में देखे जाने की जरूरत है।

प्रति–बच्चा व्यय का औसत/माध्यमिक आँकड़ा चाहे सालाना 1500 रुपए से बढ़कर 12,200 रुपए हो चुका है,[2,3] असल में तो यह सम्भ्रांत निजी स्कूलों में खर्च किए जाने वाले 12–13 लाख रुपए सालाना के खर्च के मुकाबले बहुत ही तुच्छ, आटे में नमक जैसी रकम है।[4]

इस बारे में बहुत कुछ लिखा जाता रहा है कि किस प्रकार वंचित बच्चों को बेइज्जती की हद तक स्कूल से बाहर रखा जाता है और स्कूल का उनके साथ व्यवहार कैसा रहता है। यह बहुत अच्छे से जाना–पहचाना गया है कि स्कूल छोड़ने वाले अधिकतर बच्चे वे हैं जो स्कूल के गैर–दोस्ताना माहौल की वजह से उसमें से धकेल दिए जाते हैं। स्कूली व्यवस्था में ही नहीं, समाज में भी विश्वास यह है कि इन तबकों के बच्चे सीख ही नहीं सकते और इस बारे में अधिक कुछ किया ही नहीं जा सकता। इस संवैधानिक प्रतिबद्धता को स्वीकार करने में हिचकिचाहट रहती है कि सबको समान अवसर दिए जाने हैं और यह सुनिश्चित किया जाना है कि सब बच्चे किसी भी अवस्था तक पहुँचने की अभिलाषा रख सकते हैं। एक मूक समझौते के तहत शिक्षा, अर्थव्यवस्था, यहाँ तक कि शासन और कार्यपालिका में भी, प्रतिष्ठित माने जाने वाले स्थान तो प्रभुत्वकारी मध्यम और सम्भ्रांत वर्गों की पहुँच में ही होंगे। प्रचलित रवैया तो यही है कि मनोवृत्ति और बौद्धिकता के स्तर पर अल्पसुविधाप्राप्त, पिछड़े वर्गों के लोग हीन होते हैं। हाल ही में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'लुकिंग अवे' में हर्ष मन्दर[5] इनमें से कुछ मान्यताओं का एक भावपूर्ण, धाराप्रवाह वर्णन देते हैं। अध्ययनों से प्रदर्शित होता है कि पिछड़े वर्गों के बच्चों के भविष्य के लिए जिम्मेवार लोगों में उनके सीखने की क्षमताओं के लिए कितना तिरस्कार और तुच्छ भाव है। अन्यायसंगत शिक्षा के जुर्म की जिम्मेदारी एक अर्थ में पीड़ित पर ही डाल दी जाती है।

स्कूलों में प्रतीक–चिह्न और प्रथाएँ उच्च–जाति हिन्दू परम्पराओं से उपजे हुए होते हैं और इस सन्दर्भ में विद्यार्थियों की विविधता को न तो पहचाना जाता है और न ही उसके लिए कोई जगह छोड़ी जाती है। पाठ्यपुस्तकों से अंश इस ओर इशारा करते हैं कि पाठक को भी उच्च–जाति का आर्थिक रूप से आरामदायक स्थिति में हिन्दू विद्यार्थी मानकर चला जाता है। ईद को हमारे मुस्लिम भाइयों के त्यौहार के रूप में पेश किया जाता है जब कि दीवाली पूरे देश का त्यौहार है। "वह गरीब लेकिन ईमानदार था", "रीता के पिता गरीब थे, उनके पास बस स्कूटर था और कार नहीं थी" या "जनजातियों के लोग जंगलों में रहते हैं" जैसे कथनों की भरमार मिलती है। ये प्रतीक, परिपाटियाँ और वृत्तांत अधिकतर बच्चों को अलग–थलग कर देते हैं। शिक्षक संविधान में स्थापित सिद्धान्तों में प्रशिक्षित न होने के कारण इन संकेतों का प्रतिकार नहीं कर पाते।

यह एक दिलचस्प बात है कि सम्भ्रांत घरों में या बोर्डरूम संवादों में गरीब और अल्पसंख्यक तबकों की धृष्टता के बारे में तो हमें बातें सुनाई पड़ती हैं, लेकिन वास्तविकता यह है कि इन तबकों की आवाजें बहुत ही कम सुनने को मिलती हैं। यह कोई हैरत की बात नहीं है कि जो स्कूल हर तरह के विद्यार्थियों को स्थान देते हुए समावेशी माहौल बनाने की कोशिश करते रहे हैं, उन्हें विशेष सुविधासम्पन्न और मध्य–वर्ग के बच्चों द्वारा तेजी से पलायन का सामना करना पड़ा है, खासतौर से तब जब कुछ पिछड़े वर्ग के बच्चों को शामिल किया गया। स्कूल छोड़ने के लिए यह तर्क दिया जाता है कि इन वर्गों के बच्चे अलग ही हैं और इनके मूल्य भी अलग हैं, इनमें कोई आकांक्षाएँ या उद्देश्य नहीं हैं और इनके विश्वास और मान्यताएँ भी अलग हैं – इसलिए हमारे बच्चे इनके साथ रहेंगे तो 'बिगड़' जाएँगे। इस दबाव का सामना निजी स्कूलों को ही नहीं, सरकारी स्कूलों को भी करना पड़ता है। सामान्य सरकारी स्कूल किसी बच्चे को दाखिले से अलग नहीं रख सकते, इसलिए अब निम्न–मध्य वर्ग के लोग भी इनसे बचने लगे हैं। इसलिए हैरत नहीं कि स्कूल वंचित तबकों के बच्चों को भागीदारी से अलग रखने के दबाव महसूस करते हैं। निजी स्कूल इससे भी अधिक स्तरीकृत हैं क्योंकि उनका फीस का ढाँचा उनके ग्राहकों पर निर्भर रहता है। शैक्षिक अवसरों के इस अत्यधिक स्तरीकरण को चुनौती देने का अकेला रास्ता साझा स्कूली व्यवस्था के रूप में दिखाई देता है। लेकिन यह कदम शायद उस समय उठाना अधिक आसान होता जब भारत एक गणतंत्र बना था। आज सामाजिक और राजनैतिक ताकत में एक खास तरह का असन्तुलन है, उसका झुकाव एक विशेष

दिशा में अधिक है। इसलिए अब उच्च वर्गों को साझा व्यवस्था के बारे में विश्वास दिलाने और उसके लिए तैयार करने की चुनौती में सफलता नामुमकिन लगती है। हम ग्रामीण स्कूलों पर भी अन्तर्राष्ट्रीय तुलनात्मक जाँच के दबाव को देख रहे हैं। नतीजा यह कि सरकारी स्कूल वंचित और त्याग दिए गए समुदायों के दड़बे बन गए हैं। वे पहले से कम संसाधन और ध्यान आकर्षित कर पा रहे हैं और कम अभिलाषी शिक्षा की ओर बढ़ रहे हैं जिसके चलते ये बच्चे निरन्तर असमानता के लिए अभिशप्त हैं।

एक और महत्त्वपूर्ण मुद्दा बच्चों के सीखने के प्रति व्यवस्था के रवैये का है। इसी से जुड़ा यह मुद्दा भी है कि स्तरीकृत और तथाकथित अपर्याप्त सीखने को व्यवस्था द्वारा किस तरह विश्लेषित किया जाता है। मान्यताओं से सम्बद्ध जो बड़ी व्यवस्था चलन में है, वह उन लोगों की है जिनकी भूमिका स्कूलों को उनके काम में सुविधा और सहायता प्रदान करना है। और इनके विचार में बच्चों और स्कूल के सम्पर्क में रहने वाले लोग (जिनमें शिक्षक भी शामिल हैं) कार्यकुशल नहीं हैं और न ही काम करना चाहते हैं। नतीजा यह, कि निरन्तर नए निर्देश दिए जाते हैं और शिक्षकों पर थोपे जाते हैं, उन्हें कुछ भी करने को आजाद नहीं छोड़ा जाता, जिसके चलते स्वतंत्र तौर पर कार्य करने की पहलकदमी भी वे नहीं ले पाते।[6] विविधता को अनदेखा कर दिया जाता है और शिक्षकों तथा विद्यार्थियों को एकरूप निर्देशों का पालन करना पड़ता है। स्कूल या शिक्षक के पास अपना पथ चुनने की कोई गुंजाइश नहीं रहती। दूसरी ओर सीख न पाने की जिम्मेदारी शिक्षा–व्यवस्था के प्रशासकों और शासकों द्वारा शिक्षक, माता–पिता और विद्यार्थी पर डाल दी जाती है। यह सुनिश्चित करने का दबाव रहता है कि हर कोई एक ही समयकाल में सीखे। लेकिन कोई अतिरिक्त मदद या साधन उपलब्ध नहीं करवाए जाते। नतीजा यह होता है कि शिक्षक और विद्यार्थी स्थिति से निपट नहीं पाते। कुछ भी हो, आम–सामान्य शिक्षक के खुद के रवैये और विश्वास भी बच्चों में सीख पाने की काबिलियत के प्रति बहुत सहानुभूतिपूर्ण नहीं होते। साथ ही, यह भी सम्भव है कि कुछ शिक्षक प्रत्येक बच्चे के लिए समानता के संवैधानिक अधिकार के विचार के तईं प्रतिबद्ध न हों।

अब हम आते हैं विभिन्न समुदायों की निगाह में शिक्षा के उद्देश्यों के पक्ष पर। संविधान की उद्देशिका समान अवसर को एक उद्देश्य के तौर पर रखती है – साथ ही लोकतंत्र और नतीजतन न्याय, आजादी और भाईचारे की समझ विकसित करना भी उद्देश्य है ताकि नागरिक न्याय की माँग कर सकें और दूसरों द्वारा ऐसा कर पाने के अधिकारों का सम्मान भी करें। उद्देशिका से उभरकर आने वाली शिक्षा की प्रकृति एक सार्वभौमिक, समावेशी और अनुकूलनशील प्रोग्राम के रूप में है। इस बात को समझना जरूरी है, अन्यथा प्राथमिकताएँ विकृत हो सकती हैं।

शिक्षा के उद्देश्यों में से कुछ को इस तरह से देखा जा सकता है :

1. व्यवस्था को बनाए और बचाए रखने के लिए
2. व्यक्तिगत आर्थिक सम्पन्नता तथा संसाधनों का उचित उपयोग
3. बेहतर नागरिकता को बढ़ावा देने वाला एक मजबूत देश और जीवंत अर्थव्यवस्था बनाना
4. एक न्यायसंगत तथा मानवीय समाज बनाना

इनमें से प्रत्येक पर गम्भीर विचार तथा अलग फोकस और विश्लेषण की जरूरत है।

1990 के दशक के बाद के सालों और 21वीं सदी के पहले पाँच सालों में सरकारी स्कूली व्यवस्था में नए सिरे से फेर–बदल की काफी बात चली थी ताकि शिक्षा का सार्वभौमीकरण हो पाए और सब बच्चों को गुणवत्तापूर्ण शिक्षा मिल पाए। इस प्रयास को इस विश्वास के बल पर बढ़ावा मिला था कि स्कूली शिक्षा का ध्यान बेहतर काम करने वाला कार्यसमूह प्रदान करने पर होना चाहिए ताकि व्यक्ति और देश दोनों को लाभ हो। यह बात एक राज्य के बहुत ही सच्चे–खरे और चिन्तित प्रोजेक्ट निर्देशक द्वारा कही गई है,[7] "मेरे विचार से यदि हमारी जनसंख्या शिक्षित होगी तो एक मजबूत देश बनेगा और देश को समस्याओं का सामना नहीं करना पड़ेगा। सामाजिक समस्याएँ भी घट जाएँगी। देश ताकतवर बनेगा क्योंकि शिक्षितों को प्रशिक्षित किया जा सकेगा और वे अधिक उत्पादकता के साथ काम करेंगे। वे आर्थिक रूप से स्वतंत्र हो जाएँगे तो राज्य के पास आने वाली बचत भी अधिक होगी और हम एक तेजी से आगे बढ़ती अर्थव्यवस्था की ओर जा पाएँगे। हमारे पास जनसंख्या का एक अच्छा ढाँचा है, बहुत से लोग 18 से 45 साल के बीच के हैं। यह सबसे उत्पादक आयु–वर्ग है और ये लोग मेहनत करने योग्य हैं। यदि ये सब

शिक्षित हो जाएँ तो इन्हें अधिक उपयोगी नौकरियों के लिए प्रशिक्षित किया जा सकता है।" इस कथन में शिक्षा के बारे में बहुत कुछ सकारात्मक है लेकिन एक बात इसमें नहीं कही गई है – कि लोग स्वयं भी उस प्रक्रिया का हिस्सा हों जिसके तहत वे अपनी स्थितियों को बदलने के विकल्पों के बारे में सोच सकें।

निष्कर्ष में ऐसा लगता है कि हम एक समतामूलक समाज बनाने के लिए संविधान की उद्देशिका में सुझाए गए निदेशक सिद्धान्तों से भटक गए हैं क्योंकि हमने बल केवल आर्थिक प्रगति और आज्ञाकारिता पर दिया है। बहुसंख्या को दूसरों की सेवा करने वाली भूमिकाओं के लिए तैयार किया गया है न कि समाज की बाधाओं को गिराने के लिए। बातचीत होती है तो बच्चों को परिवार के काम में उलझाने तथा देश के लिए और अधिक उत्पादन के बारे में होती है। बचपन का विचार और सपने लेना तथा आकांक्षाएँ रखना एक विशेषाधिकार की तरह है जो केवल उनके पास हो सकता है जिनमें 'योग्यता' है।

शैक्षिक प्रक्रियाओं और बच्चों की विविधता के बीच के सम्बन्ध को समतावादी तरीके से शामिल किए जाने के सम्बन्ध में अन्य महत्त्वपूर्ण सरोकार भी हैं। इनका सम्बन्ध ज्ञान की प्रकृति और कक्षा तथा स्कूल में उसके आदान–प्रदान के तरीके से है – और शैक्षिक अनुभव प्रदान करने वाले ढाँचों की प्रकृति से भी है। यहाँ पर उनके कुछ ही महत्त्वपूर्ण पक्षों के बारे में बात की गई है। इन महत्त्वपूर्ण मुद्दों से सम्बन्धित कई कदम हैं लेकिन यह स्पष्ट है कि वे सब विविधता और समता के बारे में पक्के विश्वास और मान्यताओं सम्बन्धी बृहद चिन्ताओं और इन्हें लागू करने के इरादे के उत्पाद हैं।

References:

1. How much does India spend on Elementary Education? Accountability Initiative Posted on: 04-12-14 Ambrish Dongre, Avani Kapur
2. Nayantara Nath, Per child funding formula, June 2014 CCS internship files. Wordpress.com/ 2014/06/315
3. Anurag Behar, Cost of rivatized education, Mint, 17 June 2015
4. http://www.ecolemondiale.org/fee-structure/ The fees structure of a typical good quality IB school
5. Harsh Mandar : Looking Away , (2015) Speaking Tiger Books
6. Report of the International Conference on Teacher Development and Management held in Udaipur, 23-25 February, 2009
7. Report of DPEP in Karnataka (Unpublished), Understanding Pedagogical Interventions, 2002,Principal Investigator, H.K. Dewan, Vidya Bhawan Society

हृदयकांत दीवान वर्तमान में अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय, बेंगलुरु में प्रोफेसर हैं। वे 'एकलव्य' के संस्थापक समूह के सदस्य हैं और उदयपुर की विद्या भवन सोसायटी के शैक्षिक–सलाहकार रहे हैं। वे पिछले 40 सालों से शिक्षा के क्षेत्र में कई तरह से कार्यरत रहे हैं तथा विशेष तौर से शिक्षा में नवाचार और राजकीय शैक्षिक ढाँचों में परिवर्तन के प्रयासों से सम्बद्ध रहे हैं। उनसे hardy.dewan@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद** : रमणीक मोहन